प्रवचन नं. २७ श्लोक - ७ से १७, विक्रम संवत् २०१७, श्रावण कृष्ण १४ शुक्रवार, दिनांक ०८-०९-१९६१

पद्मनन्दि पंचविंशति का छठवाँ अधिकार है। 'उपासक संस्कार' — श्रावक को आत्मा के सम्यग्दर्शन और ज्ञानसहित व्रत आदि के संस्कार का भाव होता है और षट्कर्म का भाव भी हमेशा-प्रतिदिन होता है। है वह शुभभाव, परन्तु शुभभाव; सम्यग्दृष्टि को आत्मा की दृष्टि है, आत्मा का भान है, तथापि जब स्वरूप का निर्विकल्प उपयोग न हो, तब ऐसा प्रतिदिन षटकर्म — छह प्रकार के कार्य उसे होते हैं। छह प्रकार के कार्य करता है - ऐसा भी कहने में आता है।

**जिनेन्द्रदेव की पूजा....** प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा; क्योंकि प्रतिदिन बड़े राजा-महाराजा की भी पाप के भाव से सेवा तो करता है या नहीं? तब वह गुलाँट खाकर, दृष्टि सम्यक् चैतन्य की होने पर भी, इन परमात्मा की पूजा, भक्ति, स्तोत्र, स्तवन प्रतिदिन श्रावक का यह कर्तव्य है। यदि यह कर्तव्य न होवे तो उसकी भूमिका पाँचवें गुणस्थान की है, वह टिक नहीं सकती। समझ में आया? ऐसा व्यवहार का शुभभाव न होवे और अकेला अशुभभाव ही होवे तो उसे पंचम गुणस्थान की भूमिका की मर्यादा है, वह टिक नहीं सकती। कहते हैं कि उसे हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा होती है।

**और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा...** ऐसे संसार में पापभाव से इसके कुटुम्बीजनों आदि की सेवा करता है या नहीं? इससे इसे — श्रावक को प्रतिदिन ऐसे सन्त, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा हमेशा होती है। दो बोल (हुए)। यह है शुभभाव, पुण्यबन्धन, परन्तु व्यवहाररत्नत्रय में यह भाव आये बिना रहता नहीं।

**स्वाध्याय...** शास्त्र का स्वाध्याय हमेशा करे। बहिया खोजता है न हमेशा? पत्र लिखने का, बहियाँ करने का, यह तार-पत्र डालते हैं न? कितने करते हैं तार-पत्र? धमाल होती है। सटोरियों को तो बहुत होती है। महीने में तीन-तीन हजार के तार-पत्र, पैसे चाहिए थे। ऐ...ई...! यहाँ कहते हैं, इसे स्वाध्याय, शास्त्र का स्वाध्याय (अर्थात्) वीतरागी वाणी; जिसमें वीतरागभाव और व्यवहार रागभाव का जिसमें वर्णन है, उसका हमेशा

स्वाध्याय घण्टे-दो घण्टे भी किये बिना नहीं रहता। समझ में आया? जिससे कि इसका लक्ष्य वीतरागी आज्ञा-प्रमाण यथार्थ रहा करे। हमेशा स्वाध्याय करे। कितने ही को तो स्वाध्याय करने की फुर्सत ही नहीं होती; यहाँ आवे तो सुने, फिर हो गया, जाओ!

**संयम...** यथाशक्ति छह काय के जीवों को दुःख देने का भाव नहीं होता, दया का भाव (होता है); और मन तथा पाँच इन्द्रियों में कुछ भी आंशिक भी इन्द्रियों को संयमित रखना, ऐसा प्रतिदिन श्रावक को संयमभाव होता है। पूर्ण संयमभाव तो चारित्र में होता है, परन्तु आंशिक... पुरुषार्थसिद्धि-उपाय शास्त्र में है कि जितने मुनि के आचरण की बात हम करते हैं, उसका एकदेश भाग श्रावक को होता है। अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, जो व्यवहार श्रावकाचार का अधिकार (लिखा है), तथापि पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात की और फिर चारित्र की बात का बहुत वर्णन किया। करके कहा कि श्रावक को इसमें में का एकदेश भाग होता है। मुनि को सर्वदेश होता है और श्रावक को अंश होता है। संयम भी हमेशा (होता है)। उसे इन्द्रियों का दमन, छह काय के हिंसा के भाव का थोड़ा त्याग, ऐसा तो उसे संयम दिन (दिन) प्रति (प्रतिदिन) होता है।

**योग्यतानुसार तप...** अपनी शक्ति प्रमाण इच्छा के निरोधरूपी तप, वह भी हमेशा होता है; और दिन-प्रतिदिन **दान...** लो! यह वापस कठिन बात की। हर रोज पाठ है न?... बात है या नहीं? **षट् कर्माणि दानं चेति गृहस्थानां दिने दिने** हर रोज उसे कुछ भी दान का भाव आये बिना नहीं रहता। लक्ष्मी की ममता घटाने का, आहार-पानी आदि धर्मात्मा, साधर्मी या मुनि — सन्त को देने का दान का भाव (आता है)। लक्ष्मी का उपयोग - सदुपयोग करना — ऐसा भाव उसे दिन-प्रतिदिन आता है। कहो, समझ में आया? उसमें तो-नियमसार में कहते हैं, भाई! आता है न? आलोचना के अधिकार में (आता है) कि योग्य स्थल में धन के व्यय का अभाव (जिसे हो), उसे कंजूस और लोभी कहते हैं। समझ में आया? योग्यस्थल में। जहाँ-जहाँ जिसकी योग्यता और आवश्यकता हो — ऐसे स्थल में धन का व्यय (न करे), उसका अभाव (जिसे हो), उसे हम लोभी और कंजूस कहते हैं। कहो, समझ में आया?

कल बहुत कहा था, एक मायाचारी कहा था। धर्मात्मा नाम धरावे और विवाह

आदि प्रसंग में लोभ करे, तब तो इस लोक में ही उसकी जरा निन्दा या अप्रशंसा होती है। समझ में आया ? यह है इसके अन्दर पाठ में... परन्तु जो धर्म के लिये लोभ करता है, वह तो इसलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ता है और वह सम्यग्दर्शन को भी बिगाड़ता है। कहो, समझ में आया ? ये श्रावक के कर्तव्य उसे होते हैं; होते नहीं - ऐसा नहीं है परन्तु उनकी दशा की स्थिति को वह समझता है कि यह एक पाप से बचने का प्रसंग शुभभाव मुझे हमेशा ऐसा होना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

**ये छह ( षट् ) कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य है।** उसे हमेशा ये षट्कर्म होते हैं। नाम धरावे श्रावक और कहे — हमारे जिनदर्शन की कुछ आवश्यकता नहीं, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। किसने इनकार किया ? धन्धे के, पाप के परिणाम पूरे दिन करता है, उनकी अपेक्षा उसे यह शुभभाव-जिनदर्शन का, भगवान के दर्शन का प्रेम-उल्लास आये बिना नहीं रहता। इसी तरह गुरु की सेवा इत्यादि छहों कर्म उसके होते हैं।

अब उसे सामायिक कर्म भी अवश्य हमेशा करना होता है, वह जरा वर्णन करते हैं। इनका — छहों का विस्तार अभी आगे आयेगा।

**सामायिक का लक्षण :** गृहस्थाश्रम में उसे दो घड़ी निवृत्ति लेकर आत्मा का भान हो, वह सामायिक भी हमेशा प्रयोग करे। सामायिक, प्रौषध और अन्तिम घड़ी में समाधि। संथारा, क्या कहते हैं ? समाधि-मरण, सल्लेखना। आत्मा की शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई, उसकी सामायिक का प्रयोग, अजमाईश हमेशा करे कि मैं अन्दर में कितना एकाग्र रह सकता हूँ। मेरे ध्येय को पकड़ने में मुझे कितनी देर लगती है और कितनी देर रह सकता हूँ — ऐसा दिन-प्रतिदिन उसे सामायिक का सबेरे-शाम आदि जहाँ प्रसंग हो, ऐसा उसका प्रयोग करे। पन्द्रह दिन में प्रौषध आदि का समय हो, तब बारह घण्टे या चौबीस घण्टे चैतन्य के ध्येय के प्रयोग को अजमाने के लिये उस प्रकार का प्रौषध उसे होता है और अन्तिम घड़ी में निर्विकल्प समाधि शुद्ध चैतन्य के स्वभाव में आकर और स्थिरता करके देह छूटे — ऐसा उग्र प्रयोग अन्तिम घड़ी में होता है। श्रावक को यह तीन प्रयोग होते हैं। समझ में आया ?

सामायिक का छोटा प्रयोग है, प्रौषध का बड़ा है, समाधि-मरण ( का इससे बड़ा

प्रयोग है)। श्रावक पंचम गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, अन्तिम घड़ी में प्रयोग अन्दर में अजमाता है। अरे! यह देह छूटने का काल (आया है)। भव की संधि का काल, वह भव के अभाव की दृष्टि और स्थिरता में जाये, उसे एक-दो भव या अल्पभव ही रहते हैं। भव पलटने का काल... इस सामायिक का काल और प्रौषध का काल जिसने साधा हो, उसे समाधि के समय ऐसा काल प्रसंग आये बिना नहीं रहता। हठ से करे, उसकी यहाँ बात नहीं है, हों! यह मरे तब देखो न! फिर यह लंगोटी निकाल दे और साधु बना दे और यह करे... यह तो एक व्यवहार की बात है। अन्दर पड़ा हो, उसे पता भी न हो। दृष्टि का पता न पड़े, ज्ञान का भान न हो, फिर यह एक प्रकार का व्यवहार (करे) वह यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो जिसने चैतन्य की श्रद्धा का प्रयोग साधा है, जिसने ज्ञायकमूर्ति का प्रयोग रुचि और ध्येय में ले लिया है, वह हमेशा सामायिक का प्रयोग अन्तर्मुख में देखकर करता है, न रह सके तो वहाँ विकल्प में भगवान का स्मरण, स्वाध्याय के विकल्प में रहे, उस शुभभाव को व्यवहार सामायिक कहा जाता है और जो अन्दर में एकाग्र होता है, जितना रागरहित होकर ध्येय को पकड़कर स्थिर होता है, उसे निश्चय सामायिक कहा जाता है। समझ में आया?

## श्लोक - ८

**समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।**
**आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायकंव्रतम्॥८॥**

**अर्थ : समस्त प्राणियों में संयमभाव रखना तथा संयमधारण करने में अच्छी भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना इसी का नाम सामायिकव्रत है॥८॥**

## श्लोक ८ पर प्रवचन

आचार्य महाराज जंगल में रहते हुए, अरे! करुणाबुद्धि से श्रावक के लिये शुभ आचार और क्रिया हो, उसका यह वर्णन करते है। **समस्त प्राणियों में संयमभाव रखना....** यह सामायिक में नहीं आता? वह ३२ श्लोक की सामायिक आती है न? भाई! उसमें क्या आता है? अमितगति आचार्य! '**सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं**' पहला श्लोक है। '**सत्वेषु मैत्रीं**' सभी प्राणियों के प्रति उसे बैर-बुद्धि नहीं होती, मैत्री होती है। श्रावक की दृष्टि में और उसके भाव में '**सत्वेषु मैत्रीं**' उसे सबके प्रति मैत्री-प्रेम होता है। '**गुणिषु प्रमोदं**' और अपनी अपेक्षा जहाँ गुण में — ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शान्ति आदि में वृद्धि हो, उनके प्रति उसे प्रमोद आता है, उसे प्रमोद आता है और '**क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्**' जो क्लिष्ट - जो दुःखी प्राणी, बहुत दुःखी, बहुत दुःखी (हों), ऐसे दुःखी दरिद्री को देखकर उनके प्रति कृपा का भाव आता है। समझ में आया?

**माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,** जो विपरीत भाववाले (होवें), जिन्हें बहुत ही विपरीतभाव, उल्टा भाव (होवे) श्रद्धा, ज्ञान और विरोधभाव में विरोधी बहुत होवे, उनके प्रति भी उसकी माध्यस्थवृत्ति वर्तती है। समझ में आया? **माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,** विपरीतदृष्टि-कुदृष्टि, कुज्ञान, कु-आचरण, महा लम्पटी आदि हों, ऐसों के प्रति—दोषी के प्रति भी धर्मी जीव को शान्ति वर्तती है। समझ में आया? उनके प्रति मध्यस्थपना वर्तता है। ऐसा नहीं कि ऐसा तिरस्कार या ऐसा भाव उसे नहीं होता। समझ में आया? फिर है न तीसरा पद कुछ?.... ऐसा है कुछ... यह मुझे सदा मुझे हो, ऐसा चौथा पद है। कहो, समझ में आया?

है न ३२ सामायिक का? उस सामायिक का इन लोगों को प्रयोग सही, परन्तु मूल वस्तु का पता नहीं होता। श्वेताम्बर में सबेरे-शाम सामायिक का बहुत है परन्तु अभी मूल देव-शास्त्र-गुरु क्या है, यह पता नहीं होता और यह देव-शास्त्र-गुरु वीतरागी, वीतरागी दृष्टि और वीतरागी भाव अन्दर में जो कहा, उसका पता नहीं होता। सामायिक की है न कितनी? व्यर्थ, व्यर्थ किया, व्यर्थ। हमेशा इसका प्रयोग करो सामायिक, हमेशा करो प्रतिक्रमण... परन्तु किसका प्रतिक्रमण? अभी मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना आया नहीं,

विपरीत अभिप्राय और विपरीत मान्यता की शल्य के त्याग की भावना का पता नहीं होता, उसे अव्रत का प्रतिक्रमण और प्रमाद, कषाय का प्रतिक्रमण-वापिस हटना कहाँ से आया ? मूल वस्तु का ही जहाँ पता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में व्यवहार बराबर है, और निश्चय में आत्मा की श्रद्धा भी यथार्थ हुई है, वह समस्त प्राणियों में साम्यभाव रखता है। **संयमधारण करने में अच्छी भावना रखना...** शुभभावना अर्थात् अच्छी। उसकी भावना में कब विशेष संयम लूँ, कब चारित्र लूँ—ऐसी भावना उसे होती है। सामायिक और प्रौषध मुनिपने को प्राप्त करने का एक प्रयोग है और गृहस्थ को ऐसा भाव आता है। अहो यह चारित्र, यह संयमदशा, यह वनवास! ऐसी चारित्रदशा हमें कब हो! संयम, षट्कर्म में तो थोड़ा आया था परन्तु इस संयम की भावना उसकी बारम्बार होती है, उसमें उसका तिरस्कार नहीं होता।

**आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना, इसी का नाम सामायिकव्रत है।** इसे भगवान सामायिकव्रत कहते हैं। आर्त और रौद्रध्यान नहीं; धर्मध्यान और शुक्लध्यान हो — ऐसी दशा को यहाँ सामायिक कहा जाता है।

अब जरा आचार्य कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में श्रावक को सात व्यसन नहीं होते। वरना उस व्यसनी जीव को सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता और उसमें स्थिरता तथा सामायिक के प्रयोग करने की भावना का योग भी उसे उत्पन्न नहीं होता।

## श्लोक - ९

**सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः।**
**श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९॥**

**अर्थ : जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए॥९॥**

## श्लोक ९ पर प्रवचन

**जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है...** व्यसन अर्थात् ही पीड़ा। सातों प्रकार के व्यसन, वे आकुलता, महापाप-महापाप है। ऐसा मलिन जिसका चित्त है, **उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता....** उसके सामायिक भी नहीं हो सकती। **इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को...** धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की सामायिक प्रगट हुई है और स्वरूप की स्थिरता की सामायिक का प्रयोग करनेवाले को ऐसे सात व्यसन स्वप्न में भी नहीं हो सकते। उसे सात व्यसन का त्याग होता है। समझ में आया?

यह त्याग तो व्यवहार के वर्णन में तो वर्णन ऐसा ही आता है। परमार्थ में ऐसा आता है कि राग का त्याग भी आत्मा नहीं कर सकता। वह तो वस्तु की दृष्टि और वस्तु के भान में स्थिरता होने पर राग छूट जाता है, वहाँ राग का त्याग कर्ता आत्मा है — ऐसी भी बात सत्य नहीं है परन्तु यहाँ तो व्यवहार के कथन में सात व्यसन का त्याग, राग मन्द पड़ने पर वह त्याग हो जाता है; इसलिए कहते हैं कि सात व्यसन का त्याग श्रावक और सामायिक करनेवाले को हो सकता है। समझ में आया? **सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।** सात व्यसन को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

### श्लोक - १०

**द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः।**
**महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१०॥**

**अर्थ : जुआ, माँस, मद्य, वैश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री — ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप है, इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे इनका सर्वथा त्याग कर देवें ॥१०॥**

## श्लोक १० पर प्रवचन

**जुआ,...** यह जुआ खेलना, जुआ। यह श्रावक को नहीं हो सकता। बड़े सटोरियों को देखो न! ये सब सट्टा और बट्टा, क्या ये सब जुआ होगा या नहीं? क्या होगा? व्यापार ऐसा हो, वह सब लाईन ही पूरी बदल गयी है। बड़े जुआ खेल खेले, इसमें, इसमें से ऐसा (करे), यह सब जुआ का भाव आकुलता, आकुलता तीव्र पाप का कारण है। ऐसा भाव गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि को, श्रावक को पहली चोट में उसे नहीं हो सकता। यहाँ तो कहते हैं कि यह सात व्यसन हों, तब तक धर्म का पात्र भी नहीं है।

**माँस,...** उसे माँस का त्याग होता है। माँस नहीं खाता। माँस शब्द से यह सब तेल और आता है न? क्या कहलाता है? मछली का... कोडलिवर (ऑयल) और अमुक और अमुक वह खाने में उसे नहीं होता। श्रावक को इन व्यसनों का त्याग तो पहले से ही होता है। माँस आदि का त्याग (होता है)। उसके आहार में उस प्रकार के अगम्य त्रस शरीर का भाग कहीं दिखाई दे, वह भोजन उसे नहीं हो सकता।

**मद्य...** शराब... शराब... शराब... सड़ा हुआ शराब अकेला—दारू—नहीं होता। समझ में आया? सच्चे श्रावक को, धर्मी को (वह नहीं होता)। शराब पिलाते हैं न कितने ही? यह स्त्री को प्रसूति का प्रसंग हो तो उसे दारू पिलावे और वह नशे में रहे। धर्मी जीव को वह नहीं हो सकता। शराब का त्याग होता है। सड़ा अकेला जीव का खुराक है, अकेले जीवात है।

शास्त्रकार तो कहते हैं कि शराब की एक बूँद में या शहद की एक बूँद में इतने अधिक जीव हैं कि सात गाँवों के जीवों को मारें, इतना उसमें पाप है। समझ में आया? यह इत्र का धन्धा नहीं करते? इत्र... इत्र...। इत्र कहते हैं न? क्या कहते हैं? इत्र की शीशी। अकेले त्रस के माँस की बोतल... वह व्यापार भी श्रावक को नहीं होता और उसका भोजन भी श्रावक को नहीं हो सकता। आगे आयेगा। कल कहा था न? भाई ने पूछा था।

**मुमुक्षु :** .....

**उत्तर :** हाँ; निषेध है। इत्र महा पाप है।

**मुमुक्षु :** ....

**उत्तर :** लगाना-फगाना नहीं होता। श्रावक को (नहीं होता)। इतना महान पाप है। शहद के एक बिन्दु में बड़ा पाप लिखा है। शहद में! वह तो शराब है। समझ में आया? इतना तो इसे पहले विचार सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित में ऐसे भाव का त्याग ही होता है। यह बात उसे नहीं होती। यह व्यवहार की शोभा इस प्रकार से इसकी होती है।

**मद्य (दारू), वैश्या...** श्रावक को वैश्या नहीं होती, वैश्या का त्याग होता है। **शिकार...** यह नहीं होता, शिकार करने का, मारने का (नहीं होता)। **चोरी...** नहीं होती। **परस्त्री...** नहीं होती। **ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप है,... महापापानि सप्तैव** कहो, आचार्य महाराज जगत की करुणा में कहते हैं कि भाई! ऐसे सात व्यसन होवे तो तुझे धर्म नहीं परिणमेगा, ऐसे सात व्यसन में पड़ा होगा, तब तक तुझे धर्म की सूझ नहीं पड़ेगी।

**इसलिए विद्वानों को... 'बुधः'** शब्द है न? **बुधः** मूल तो ज्ञानी, बुधः अर्थात् ज्ञानी। ज्ञानी जीवों को, धर्मात्मा जीवों को इन सात व्यसनों का त्याग करना चाहिए। विशेष (वर्णन करते हैं।)

## श्लोक - ११

**धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः।**
**जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता॥११॥**

**अर्थ : जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है, यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए॥११॥**

## श्लोक ११ पर प्रवचन

यह वहाँ है, पुरुषार्थसिद्धि में भी अमृतचन्द्राचार्य ने लिया है। **जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है...** आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की **अभिलाषा करनेवाला है, यदि उसके भी ये व्यसन होवे...** उसे यदि यह सात व्यसन होवे, **उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती...** उसे यह धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती। सात व्यसन तो महापाप है। समझ में आया? उसकी अपेक्षा मिथ्यात्व महापाप है परन्तु इसका त्याग तो पहले कहा। सात व्यसन से भी मिथ्यात्व का पाप अनन्तगुना महान है। ठीक है?

टोडरमलजी ने लिखा है, पहला विपरीत अभिप्राय—कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ना और सच्चे सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र की श्रद्धा करना और उस राग में भी धर्म माने तो वह भी मिथ्यात्व है — ऐसा इसे पहले तो यथार्थ अभिप्राय को शुद्ध करना; नहीं तो इन सात व्यसनों से भी यह पाप (मिथ्यात्व का पाप) मार डाले ऐसा है। लोक की लाज से नहीं, दुनिया की शर्म से नहीं, नीति में निपुण पुरुष सत्य में से एक भी कदम आगे नहीं भरते। उसमें टोडरमलजी में है। समझ में आया? महान पाप है और यह त्याग करने के बाद-मिथ्यात्व के त्याग के बाद सात व्यसन का बड़ा पाप है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं **ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती...** समझ में आया? एक व्यक्ति कहता था। यह मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा, साधु नाम धरावे, स्थानकवासी थे और हो गये मन्दिरमार्गी; फिर यह मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा। यहाँ का सब झुकाव... झुकाव... चलता है न? निश्चय का यह वह। फिर कहे कि मांस हो या दारू हो, वह क्रिया कहाँ आत्मा करता है? निश्चय होवे तो उसे कोई व्यवहार-व्यवहार बाधक नहीं... अरे! मर जायेगा कहा। इस निश्चय का जिसे भान हो, उसे ऐसे व्यसन नहीं हो सकते। भाव है या नहीं? यहाँ क्रिया की कहाँ बात है? ऐसे भाव महापाप हैं। जिसे निश्चय का भान है, उसे फिर ऐसे व्यवहार के त्याग की क्या आवश्यकता है? हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहता है।

एक साधु था। वैसे तो स्थानकवासी था परन्तु हो गया मन्दिरमार्गी, मन्दिरमार्गी हुआ और फिर यहाँ चातुर्मास में रहा था। उसमें एक बार मोक्षमार्गप्रकाशक और यहाँ का पढ़ा था, बस! निश्चयवाले को व्यवहार का त्याग हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है... वह तो माँस भी हो और अण्डा भी हो और दारू भी हो... आहाहा! मर जायेगा, निश्चय के भान बिना अकेले निश्यचयाभासी की योग्यता-भूमिका में...

यहाँ तो कहते हैं सात व्यसन का भाव होवे, परस्त्री का भाव, वैश्या का भाव, माँस का, शराब का भाव (होवे), ऐसे जीव को धर्म समझने की, धारण करने की (योग्यता नहीं है)। आकुलता जहाँ उग्र हो, वहाँ धर्म धारण करने की धीरजता कहाँ से आयेगी? इसलिए सम्यग्दर्शन के पहले भी सात व्यसन का त्याग तो इसे होना चाहिए। कहो, समझ में आया?

**वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता...** सात व्यसनवाला धर्म की परीक्षा करने को पात्र-योग्य ही नहीं है। **इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए।** आचार्य इसे वर्णन करते हैं।

## श्लोक - १२

**सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम्।**
**आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसनं स्वसमृद्धये॥१२॥**

**अर्थ : आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं; उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये मनुष्यों को खींचकर नरक में ले जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियत किया है॥१२॥**

## श्लोक १२ पर प्रवचन

**आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं; उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं....** कुदरत से जगत में नरक के स्थल भी सात हैं। **इसलिए ऐसा मालूम होता है...** आचार्य जरा सम्बन्ध करते हैं कि **उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये....** नरक में जीव की वृद्धि के कारण से **मनुष्यों को खींचकर नरक में ले जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियत किया है।** एक-एक व्यसन का सेवन करनेवाला एक-एक नरक में जाये। इन सातों ही नरक का पूरा वे पाड़ेंगे। सातों ही नरक में ये सात व्यसन सेवन करनेवाले पूरा पाड़ेंगे। वरना वहाँ पूरा होगा नहीं, इसलिए आचार्य कहते हैं कि सात व्यसन के सेवन करनेवाले नरक में जानेवाले हैं। कहो, समझ में आया? ऐसे व्यसन इसे हो नहीं सकते। समझ में आया? आचार्य ने इसका मिलान किया है कि जगत में सात नरक कुदरत से ही हैं, सात व्यसन सेवन करनेवाले को वहाँ खींचकर नरक में ले जाते हैं; इसलिए सात नरक कुदरत से ही बनी हुई है। अब, दूसरा दृष्टान्त विशेष कहते हैं।

## श्लोक - १३

**धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह।**
**सप्ताङ्गंबलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम्॥१३॥**

**अर्थ : और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग जिसके, ऐसा बलवान राज्य है॥१३॥**

## श्लोक १३ पर प्रवचन

**और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए....** धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए **पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग**

**जिसके....** पापी राजा के सात अंग हैं। जैसे इसे अंग होते हैं न ? ऐसे घोड़े और हाथी और सब सेना, वैसे ही पापी राजा के ये सात व्यसन एक अंग हैं; यह पाप, धर्म का वैरी है। धर्म का नाश करने के लिये सात व्यसन हैं। कहो, समझ में आया ? **ऐसा बलवान राज्य है।** सात व्यसन का सेवन करनेवाला ऐसा पापी यह राजा, उसके सात अंग का राज्य गिना है, वह धर्म का वैरी है, धर्म का नाश कर डालता है; इसलिए धर्मात्मा को, धर्म के अभिलाषी को ये सात व्यसन नहीं हो सकते हैं।

**जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से शत्रु का विजय करता है....** देव में भी सात सेना आती है। **जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से...** सप्तांग सेना से—सात अंग। शत्रु का नाश करता है। **उसी प्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांग सेना से धर्मरूपी शत्रु को जीतता है...** सात व्यसन का पाप, धर्मरूपी शत्रु को हरा देता है। **इसलिए जो पुरुष धर्म की रक्षा करना चाहते हैं, उनको इन सप्त व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।** कहो, सामायिक ली, षट्कर्म लिये और यह एक सात व्यसन का त्याग (कहा)। अब इन षट्कर्म में एक-एक का विस्तार करते हैं। जिनेन्द्रदेव की पूजा, श्रावक को हमेशा होती है, उसका विस्तार करते हैं।

## श्लोक - १४

आचार्य छह आवश्यकों की महिमा का वर्णन करते हैं।

**प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।**
**ते च दश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥**

**अर्थ : जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् सर्व लोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है ॥१४॥**

## श्लोक १४ पर प्रवचन

ओहोहो! जिसे आत्मा की अन्तर भक्ति / दृष्टि प्रगट हुई है, वह जिनेन्द्र तीन लोक के नाथ परमेश्वर वीतरागदेव की पूजा हमेशा करता है। समझ में आया? कोई कभी-कभार जाये और फिर गिनाये कि हम भगवान की पूजा करनेवाले हैं... कहो समझ में आया? **जो भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं 'प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या'...** समझ में आया? ये क्यों याद आये? इन्होंने परसों पूछा था कि भगवान की भक्ति करे, तब तत्पर हुए बिना तो भगवान की भक्ति नहीं होती, राग में एकाकार हुए बिना तो नहीं होती। निश्चयदृष्टिवन्त को ऐसी भगवान की भक्ति आवे? अरे! आये बिना नहीं रहती, तथापि राग और स्वभाव को एक नहीं मानता। भक्ति का राग आये बिना रहता नहीं, दिन-प्रतिदिन भगवान की पूजा (करे), तथापि धर्मी को वह राग और स्वभाव भिन्न-भिन्न भास्यमान होते हैं। तो उन जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का वास्तविक व्यवहार कर्तव्य कहने में आता है। वरना तो अकेला व्यवहारभास हो जाता है, व्यवहाराभास। अकेले राग में लीनता और राग की क्रिया में एकाकार (होता है) परन्तु मैं एक उसका जाननेवाला हूँ, श्रद्धा-ज्ञान सम्पन्न आत्मा हूँ, उसमें राग का त्रिकाल अभाव है — इन दोनों के बीच में अभाव इसे दृष्टि में न रहे तो राग में एकाकार हो तो उसे व्यवहारभक्ति भी वास्तव में नहीं कहा जाता। यह बात है।

**भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं....** ऐसे तो देखे ऐसा नहीं। जय नारायण... जय भगवान... ऐसा करके भगे (ऐसा नहीं)। प्रेम से (दर्शन करे), ओहोहो! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग अक्रिय बिम्ब, जिनकी मूर्ति अक्रियपना, लोकालोक को मानो जानती हो — ऐसी वीतराग मुद्रा का बिम्ब दिखता है, इस प्रकार जो भक्ति के प्रेम से भगवान को देखता है, कहते हैं, वह पूजा के योग्य होता है। इसके साथ में शब्द लेना '**जिनेन्द्र भक्त प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति**' वह जगत में पूजित होता है, ऐसा पुण्य बाँधेगा। इन्द्र जिसे पूजेंगे। ओहोहो! समझ में आया? जो जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से पूजा करे, उसकी इन्द्र पूजा करेंगे। ऐसा कहकर उसका फल पुण्य और पुण्य का फल

बतलाया है। समझ में आया ? वह पुण्य ही अलग प्रकार का लोकोत्तर पुण्य होता है। समझ में आया ?

सो कुलथी (अनाज का माप) अनाज उगे उसमें सौ सूखी घास गाड़ी का घास होती है। समझ में आता है न ? यह अनाज पके तो घास तो होती है न ? घास चारा, चारा। समझ में आया ? घास, घास, घास तो होती है सौ गाड़ी। सौ कुलथी सौ खांडी (माप) अनाज पके साथ में ऐसा घास होता ही है। फिर कहीं ऐसा हो कि घास अकेला हो और दाना न हो। यह छप्पनिया में अकेला घास पका, छप्पनिया में पाँच-पाँच, छह-छह इंच वर्षा तो हो गयी थी, हों! बाटा हुआ था, बाटा, बाटा अर्थात् थोड़ा-थोड़ा घास परन्तु अनाज नहीं मिले, कहीं ऐसा नहीं की भाई यह अनाज सौ खांडी पका और घास का एक भी तिनका नहीं हुआ। ऐसा नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार जिसे भगवान आत्मा की प्रतीति और रुचि हुई है, उसे त्रिलोकनाथ भगवान की भक्ति का जो पुण्य है, उसे इन्द्र पूजेंगे — ऐसा पुण्य वह बाँधेगा। दुनिया साधारण पूजे और साधारण जलसा करे, यह बात नहीं है - ऐसा कहते हैं यहाँ तो। उसका पुण्य ही अलग प्रकार का होता है। उस सम्यग्दृष्टि का जो पुण्य है, ऐसे स्थान में वह जन्मेगा कि दुनिया के पैसे में से उत्तराधिकारी टैक्स और यह अमुक टैक्स और हाऊस टैक्स यह उसे नहीं लेना पड़ता - ऐसे स्थान में वह जन्मेगा। सहज ही ऐसे पुण्य को लेकर जहाँ वह राजकुमार या बड़े अरबपति में सम्यग्दृष्टि जन्मेगा। यहाँ पुण्य बाँधकर वहाँ आगे (जन्मे कि) समुद्र के आसपास में मछलियाँ ऐसी पके की करोड़ों रुपये और अरबों रुपये के मोती पके, वह पुण्य लेकर ही साथ आता है। या आसपास के पत्थर के दल नीलमणि के, रत्न के पत्थर हो जायें। पत्थर जो पकते हों, (ऐसे) नीलमणि पके अन्दर। यह रेयत ऐसी कहती आवे कि यह कोई पूर्व का पुण्यवन्त प्राणी दूसरे प्रकार का है। हमारे में से भाग नहीं लेता और हमारी अपेक्षा पुण्य का प्रभाव और फल ऐसा कोई अलग प्रकार का है। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि को ऐसा पुण्य बँधता है। जिसमें पुण्य का आदर नहीं, वहाँ ऐसा पुण्य बँधता है और जहाँ पुण्य का आदर है, वहाँ ऐसा पुण्य नहीं बँधता। 'त्यागे उसके आगे और माँगे उसके भागे।'

यहाँ यह बात कहना चाहते हैं कि ओहोहो! वीतराग की भक्ति-परमात्मा की भक्ति शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, वहाँ इन्द्र भी करते हैं। इस अष्टाह्निका में देखो न! वहाँ नन्दीश्वर द्वीप में मणिरत्न की शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं, बावन जिनमन्दिर है, वहाँ जाकर इन्द्र एकावतारी-एकभव में मोक्ष जानेवाले और उनकी इन्द्राणी शचि और शचि पति दोनों एकभव में मोक्ष (जानेवाले हैं)। एकावतारी, एक भवतारी वहाँ जाकर भगवान को ऐसे प्रसन्नता से (पूजते हैं)। ओहो! परन्तु भगवान तो शाश्वत् महाविदेह में विराजते हैं न! परन्तु इस प्रसंग में वे जाते हैं और इस समय ऐसी अष्टाह्निका में भगवान की भक्ति करते हैं, घुँघरू बाँधकर करते हैं, घुँघरू बाँधकर! देह की स्थिति तो देह के कारण होती है परन्तु ऐसा वात्सल्यभाव उछलता है। ओहोहो! प्रभु वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा आपका कुदरत के साथ मेल है। तू जहाँ अनादि से चैतन्यमूर्ति विराजता है तो उसकी प्रतिमाएँ भी अनादि से विराजती हैं। जैसे अनादि से चैतन्य वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा मनुष्य देह में विराजते हैं। कभी अरिहन्त के अतिरिक्त का मनुष्यलोक होता नहीं तो चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर भी जिन प्रतिमाएँ अनादि की इन सूर्य-चन्द्र की तरह है, इनकी भक्ति इन्द्र जाकर करते हैं। कहो, समझ में आया?

कहते हैं जो भगवान की भक्ति से पूजा करेगा, भक्ति करेगा, उसे दुनिया, दुनिया के लोग पूजेंगे। **तीनों लोक में दर्शनीय...** होगा। भगवान को देखनेवाला तीन लोक में दर्शनीय होगा। '**भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति**' कहो, **पूजा स्तुति करते हैं, वे भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं...** तीन लोक उनकी पूजा करेगा और तीन लोक उनकी स्तुति करेगा। उन्हें इच्छा नहीं परन्तु ऐसा भाव उसमें आये बिना नहीं रहता। तीर्थंकरगोत्र का बन्धभाव होवे, जिसके फल में चौदह ब्रह्माण्ड में जरा खलबलाहट हो जाती है — ऐसी अत्यन्त प्रकृति... परन्तु वह होवे किसे? कि जिसे अन्दर के राग का भाव आदर में नहीं उसे। व्यवहार से आदरणीय है परन्तु परमार्थ से आदरणीय नहीं। उसे ऐसी भक्ति, स्तुति और पूजा होती है। दुनिया उसकी भक्ति, पूजा, और स्तुति करेगी।

**सर्व लोक उनको भक्ति से देखता है...** भगवान को भक्ति से देखा... दुनिया-सर्व

लोक उसे भक्ति से (देखेगी)। लोकोत्तर पुण्य है न? आत्मा के भान भूमिका में भावपुण्य, सत्पुण्य बाँधा है। वह भावपुण्य कहलाता है। भाव अर्थात् सत्पुण्य। जो कि सत् की श्रद्धा-ज्ञान की भूमिका में सत् भाव, व्यवहार से ऐसा सत् भाव आया कि दुनिया उसे भक्तिपूर्वक देखेगी। **तथा उनकी पूजा स्तुति करता है।** अब कहते हैं।

## श्लोक - १५

**ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।**
**निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥१५॥**

**अर्थ : किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है॥१५॥**

### श्लोक १५ पर प्रवचन

भाई! आचार्यों को ऐसा! वे तो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अरे! परन्तु परमात्मा की भक्ति और तेरे स्तवन। **किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं...** भगवान की मूर्ति, प्रतिमा... 'जिनप्रतिमा जिनसारखी कही आगम मांही' बनारसीदास तो कहते हैं। समझ में आया? 'जिनप्रतिमा जिनसारखी,... अल्पभव स्थिति जाकी सोही प्रमाणै जिनप्रतिमा जिनसारखी' समयसार नाटक में है, समयसार नाटक है न? बनारसीदास। 'कहत बनारसी अल्पभव स्थिति जाकी' अर्थात् दृष्टि का भान है और उसे भगवान... 'कहत बनारसी अल्पभव स्थिति जाकी सोही प्रमाणै जिनप्रतिमा जिनसारखी' भगवान साक्षात् विराजते हैं — ऐसा उसे आल्हाद और भक्ति व वात्सल्य आये बिना नहीं रहता है। समझ में आया?

मूर्ति नहीं माननेवाले के लिये यह बहुत विरुद्ध है। वे कहते हैं — हम भले ही मूर्ति नहीं मानें। कहाँ स्तुति (कही है)? कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने तो व्यवहार स्तुति का निषेध

किया है। एक जितेन्द्रिय हो, उसे ऐसा निश्चय हो, उसे स्तुति कहा है, यह दृष्टान्त देते हैं। इसलिए भगवान की मूर्ति और पूजा-बूजा की बात कुछ समयसार में नहीं लगती। अरे... ! सुन न ! इनके घर का तुझे क्या पता पड़े ? निश्चय की बात लेने जाये तो यह ले अन्दर। भगवान की मूर्ति और पूजा (नहीं)।

हमने पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा, एक व्यक्ति कहता था, समझे न ? यह उमास्वामी का पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा परन्तु उसमें कहीं मूर्ति नहीं। परन्तु यह चार निक्षेप नहीं उसमें ? नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव सबमें उतारे हैं। सातों तत्त्वों में, अरिहन्त में, सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में और सम्यक्चारित्र में, सबमें ऐसे चार निक्षेप उतारे हैं। पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा, ऐसा वाचाल बोले, उसमें कहीं मूर्ति नहीं, हों ! यह तो कौन जाने लेकर कहाँ से पड़े हैं। यहाँ यह मानस्तम्भ की मूर्ति देखकर बाहर से ऐसे चले जाते थे और कहे यह मूर्ति-वूर्ति शास्त्र में कुछ नहीं, हमने शास्त्र में सब तत्त्वार्थसूत्र भी पूरा देखा है। बहुत अच्छा, आहाहा ! अरे भाई ! तुझे अभी व्यवहारश्रद्धा का ठिकाना नहीं, उसे निश्चयश्रद्धा की भूमिका में वास्तविक प्रतिमा, उसके नय, व्यवहारनय का विषय-निक्षेप है, वह आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया ?

कहते हैं **जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं...** भगवान, मूर्ति विराजते हों और ऐसे के ऐसे पैर लगे बिना (वन्दन किये बिना) चला जाये तो वह अनादर करनेवाला, असातना करनेवाला है। समझ में आया ? कि हम तो मानते हैं, चार निक्षेप मानते हैं, निक्षेप मानते हैं परन्तु वन्दन-वन्दन नहीं। वह निक्षेप को ही नहीं मानता। समझ में आया ?

शास्त्र में आता है कि महामुनि ध्यान में हों, ऊपर से विमान निकला हो, वन्दन किये बिना चले तो विमान रुक जाता है, विमान रुक जाता है ! यह इसका ऐसा हुआ था न उसमें ? क्या ? यह पार्श्वनाथ भगवान, कमठ का। पार्श्वनाथ भगवान ध्यान में (बैठे थे) और ऊपर, ऐसा देखा-यह कौन ? मेरा विमान रोक दिया। वह तो ऐसा देखता है कि ओहो ! वन्दन योग्य (महामुनि) नीचे विराजते हैं, उन्हें उल्लंघकर नहीं जाया जाता — ऐसा सहज नियम है। उन्हें वन्दन और भक्ति-पूजन किये बिना नहीं जाया जाता — ऐसा कुदरत के

साथ इसका सम्बन्ध है, ऐसा न लेकर विरोध किया। नीचे उतरकर पानी डाला और पत्थर डाले और अग्नि (जलायी)। ज्वाला ज्वाला के स्थान... भगवान तो ध्यान में मस्त (रहे) धरणेन्द्र, पद्मावती (आये) यह तो इस प्रकार का पुण्य का योग था। केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, वे कहीं उसके परिषह से मर जायें या देह छूट जाये, ऐसा था नहीं। धरणेन्द्र आया... समझ में आया? और पद्मावतीदेवी, दोनों ने आकर भगवान... ऐसी भक्ति धरणेन्द्र को वहाँ उछली। कहाँ धरणेन्द्र भुवनपति में और कहाँ भगवान यहाँ! परन्तु ऐसा भक्ति का भाव (आया)। कहीं प्रतिकूलता हुई भगवान को, आसन कम्पित हुआ, कुछ फेरफार है, ऐसा उपयोग लगाता है। ओहो! पार्श्वनाथ भगवान को कमठ उपसर्ग करता है... इसी-इसी में ध्यान करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए उपसर्ग छूट गया।

कहते हैं जो मनुष्य, भगवान वीतराग त्रिलोकनाथ की भक्ति नहीं करते, पूजा नहीं करते और **न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं, उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है।** आचार्य कहते हैं- धिक्कार है। आप तो वीतराग हो न? अब सुन न! मुनि, महात्मा, दिगम्बर सन्त, भावलिंगी, वीतराग पद में विराजते हैं, वे कहते हैं, अरे! गृहस्थाश्रमी! त्रिलोक के नाथ की मूर्ति को प्रतिमा को उल्लंघकर तू मानता नहीं, पैर लगता नहीं, स्तुति करता नहीं, पूजा करता नहीं, तेरे गृहस्थाश्रम को (धिक्कार है), यह दूसरी जगह दान अधिकार में आता है। इसमें नहीं। समझ में आया?

जिस गृहस्थाश्रम में भगवान की भक्ति नहीं, दान नहीं प्रतिदिन, पूजा नहीं ऐसे गृहस्थाश्रम को गहरे पानी में लेकर उसे होम दे, अंजुलि दे दे, ऐसे गृहस्थाश्रम को। नरक के स्थान के लिये ऐसा गृहस्थाश्रम? जहाँ भगवान की भक्ति नहीं, जहाँ धर्मात्मा का आदर नहीं, जहाँ धर्मात्मा आवे उनका आहार-पानी का सत्कार नहीं और हमेशा दान आदि का भाव नहीं — ऐसे विषमजालवाला घर गहरे पानी में लेकर उसे अंजुलि दे दे, कहते हैं। पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं। समझ में आया? दान अधिकार में बहुत आयेगा। दान अधिकार में आता है। ऐसे गृहस्थाश्रम को गहरे गहन पानी में डुबा देना। तेरा गृहस्थाश्रम नरक में ले जाये, किस काम का? कहते हैं। समझ में आया?

व्यवहार है या नहीं? सोनगढ़वाले व्यवहार उड़ाते हैं। अरे..! सुन तो सही!

व्यवहार के स्थान में व्यवहार बराबर है। व्यवहार न हो — ऐसा नहीं हो सकता परन्तु उसे पाप से बचनेमात्र शुभभाव लोकोत्तर दूसरे प्रकार का होता है परन्तु उसका फल अनुकूल संयोग है, महा इन्द्र पूजा करे — ऐसा संयोग फले इतनी उसकी मर्यादा है और ऐसी मर्यादा उसे आये बिना नहीं रहती। जब तक वीतरागपना न प्रगटे, तब तक गृहस्थाश्रम में चारित्र ही नहीं और चारित्र के बिना केवलज्ञान हो नहीं सकता। गृहस्थाश्रम में केवलज्ञान कभी होता नहीं। गृहस्थाश्रम में रहा, पाँचवें गुणस्थान में किसी को केवलज्ञान हो — ऐसा तीन काल में नहीं होता।

अष्टपाहुड़ में कहा है न ? अपने यह अधिकार चलता है... तीर्थंकर का निश्चय उस भव में मोक्ष है, पता है, तीन ज्ञान लेकर आये हैं; तथापि चारित्र धारण किये बिना उन्हें केवलज्ञान नहीं होता। समझ में आया ? उन्हें श्रद्धा-ज्ञान में नहीं आया पहले से ? अरे ! मैं तीर्थंकर हूँ, चार ज्ञान में (से) तीन ज्ञान तो लेकर आया हूँ, सौ-सौ इन्द्र ऐसे पूजा करते हैं परन्तु मैं जब तक चारित्र / स्वरूप में रमणता, राग का अभाव करके न करूँ, तब तक मुझे केवल (ज्ञान) नहीं होगा। समझ में आया ? ऐसा चारित्र जहाँ नहीं — ऐसे गृहस्थाश्रम में ऐसे शुभभाव की प्रचुरता-पुण्यभाव की (प्रचुरता) उसे व्यवहाररत्नत्रय में होती है परन्तु उसे धर्मी, पुण्य-बन्ध का कारण जानता है। समझ में आया ?

**उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल...** वह कल नहीं कहा था जरा ? अपनी ऋद्धि प्रमाण... दो पाठ है, इसमें। भाई ! दान अधिकार में भी है और इसमें है। इसके बाद के अधिकार में दो जगह है। व्रतद्योतन है न ? अपनी ऋद्धि प्रमाण में जो पैसा या लक्ष्मी का सदुपयोग धर्म के प्रेम के लिये नहीं करता, वह मायावी, कपटी, कुटिल है। धर्मात्मा नाम धरावे और उसकी शक्ति प्रमाण, हों ! होवे दस लाख की पूँजी और पचास खर्च करे, दस खर्च करे और नाम निकलवावे कि भारी धर्मी - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? इसमें है। कल आया था या नहीं ? यथाऋद्धि पृष्ठ २२४ में है, २२४। यह अधिकार है न दूसरा ? है देखो १७ वीं गाथा।

**'मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्।'** है न १७ वीं गाथा। २२४ पृष्ठ, १७ वीं के नीचे **'गृहिणा यथर्द्धि' — अत्यन्त**

**दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी, जो मनुष्य मोक्ष के लिये उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है, ऐसा भलीभाँति समझकर अपने धन के अनुसार...** यह 'यथर्द्धि' का शब्द है। समझ में आया? **धन के अनुसार भव्यजीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।** दृष्टि है न सामने? इसलिए निमित्त से आरोप करके संसार को पार करने में वह निमित्तरूप है - ऐसा कहा है। समझ में आया? दो जगह है, अन्यत्र भी कहीं है, १२५ पृष्ठ है। १२५, ३१ वीं, ३२ वीं गाथा। ३१ गाथा (दानोपदेशम अधिकार)।

**जो मनुष्य धन के होते भी दान देने में आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है...** ऐसा आया। **वह मनुष्य मायाचारी है...** है? **उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुआ है तथा उसके वह कपट दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करनेवाला है।**

**जो मनुष्य धर्मात्मापने के कारण दान आदि नहीं देते हैं तथा अपने को माया से धर्मात्मा कहते हैं, उन मनुष्यों को तिर्यंच गति में जाना पड़ता है तथा वहाँ पर उनको नाना प्रकार के भूख-प्यास संबंधी दुःख भोगने पड़ते हैं; इसलिए मनुष्य को कदापि मायाचारी नहीं करनी चाहिए।** फिर आता है 'यथर्द्धिः' देखो, अन्तिम शब्द है। **'समन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धिः' गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार....** है? ३२ वीं गाथा। **गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार एक ग्रास अथवा आधा ग्रास व चौथाई ग्रास अवश्य ही दान देना चाहिए....** अपनी शक्तिप्रमाण जरूर देना चाहिए। **इस संसार में उत्तम पात्रदान का कारण इच्छानुसार द्रव्य कब किसके होगा।** ऐसा कहते हैं। हजार मिले तो — ऐसा होना ऐसा कहते हैं न लोग? है अर्थ में देखो नीचे।

**इच्छानुसार द्रव्य संसार में किसी को नहीं मिल सकता क्योंकि शताधिपति हजारपति...** हजारपति की अभी तो कोई गिनती नहीं है, पहले में होगी और हजारपति लक्षाधिपति **हजारपति, लक्षाधिपति, लक्षाधिपति करोड़पति, इत्यादि रीति से इच्छा की कहीं भी समाप्त नहीं होती; इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैं हजारपति हूँगा तभी दान दूँगा अथवा में लखपति हूँगा तभी दान दूँगा किन्तु जितना धन पास में**

**होवे उसी के अनुसार ग्रास दो ग्रास अवश्य दान देना चाहिए।** जंगल में रहकर मुनि भी जगत की करुणा के व्यवहार की विवेकता उसे बताते हैं। कहो समझ में आया?

चलता अधिकार। **उनके गृहस्थाश्रम के लिये भी धिक्कार है।** १५ वीं गाथा। आयी न? अब वह कल कहा था, वह यह गाथा आयी।

## श्लोक - १६-१७

**प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवता-गुरु-दर्शनम्।**
**भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥**
**पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः।**
**धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७॥**

**अर्थ : भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए, इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है॥१७॥**

### श्लोक १६-१७ पर प्रवचन

क्या कहते हैं? **भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर...** सबेरे उठकर पहले भगवान के दर्शन करना। यह फिर उठना और दर्शन करना, भाई! क्रिया तो हो नहीं सकती न पर की? अरे! सुन न! ऐसा भाव उसे आवे और बाहर की क्रिया होनी हो तो हुए बिना रहती नहीं। बहुत तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा ही होता है। भगवान की वन्दना कर यह तो किसी समय शरीर की क्रिया भी, तथापि वह कोई भाव के कारण क्रिया होती है, ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं, लो! ऐसा करते हैं, ऐसा करते हैं... निमित्तवाले यह विवाद निकालते हैं। अरे! विवाद छोड़ दे न।

**भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए...** सबेरे उठकर पहले यह करना, लो! **और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए...** है न? **'भक्त्या तद्वन्दना कार्या'** आहाहा! देखो! यह श्रावक का दिन-प्रतिदिन का कर्तव्य का वर्णन करते हैं। समझ में आया? यह देवपूजा की बात चलती है न? तो देवपूजा के अन्दर में यह बात है। दिन-प्रतिदिन **वन्दना-स्तुति भक्ति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए,... 'धर्मश्रुतिरुपासकैः'** हमेशा धर्म श्रवण करना। लो! ठीक! यह दिन-प्रतिदिन कर्तव्य में डाला है। इसे शास्त्र का श्रवण भी हमेशा (होता है)। श्रावक को यथार्थ कर्तव्य में यह कर्तव्य भी साथ में आ जाता है। धर्म का श्रवण हमेशा करना, स्वाध्याय हमेशा और धर्म का श्रवण हमेशा। कहो, समझ में आया?

**इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है...** पहले यह कार्य करने के बाद गृहस्थाश्रम के कार्य करना योग्य है अर्थात् कहीं आचार्य करने को कहते हैं ऐसा सम्मत नहीं, परन्तु यहाँ हेतु यह है कि पहले यह चाहिए और फिर तेरे (जो) करने का प्रसंग हो तो तू कर। यह तो समझाने के लिए बात है। मुनि तो नौ-नौ कोटि से पाप के त्यागी हैं। वे कोई (ऐसा नहीं कहते हैं कि) तुम्हारे पाप बाद में करना। यह फिर तू पाप करना। विवाद उठाते हैं, यहाँ कहा है देखो! **'पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि'** यह तो उसका ज्ञान कराते हैं कि पहले यह करना। करनेयोग्य है कहाँ? छोड़ देना न? इतना छोड़कर मुनि होना परन्तु न हो सके और गृहस्थाश्रम की बात है। इसलिए यह पहले देव-गुरु के दर्शन शास्त्रभक्ति, शास्त्रश्रवण पहले होना चाहिए, उठकर तुरन्त (होना चाहिए), फिर अन्य गृहादि सम्बन्धी कार्य अर्थात् व्यापार-धन्धा आदि फिर तुझे योग्य हो, तद्नुसार (करना) परन्तु पहले यह करना। यह बात यहाँ स्थापित करनी है। देव की पूजा में यह पहली बात पद्मनन्दि आचार्य महाराज लेते हैं।

**क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने...** लो! गणधर आदि महापुरुषों ने। कहा है न? **'आदौ धर्मः प्रकीर्तितः' गणधर आदि महापुरुषों ने...** धर्म अर्थात् पुण्य; अर्थ अर्थात् लक्ष्मी; काम अर्थात् इच्छा; मोक्ष अर्थात् पुरुषार्थ जो रागरहित का पूर्ण मोक्ष का। **इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है...** यहाँ व्यवहार की बात है न? इसे मोक्ष तो होगा तब अवश्य परन्तु यह स्वरूप में लीन न हो तो इसे शुभभाव ही अधिक

आता है। **सबसे प्रथम निरुपण किया है...** इसकी व्याख्या समझना, पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान की व्याख्या तो आ गयी है।

पहले सम्यक्.... रत्नकरण्डश्रावकाचार उठाये तो पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान फिर आचार का वर्णन। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में उठाया पहले सम्यग्दर्शन से। यह बात तो भूल गये और ऊपर की अकेली (बातें) रह गयीं। समझ में आया? यहाँ भगवान पद्मनन्दि आचार्य पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की स्थिति का भान करके और फिर उसका व्यवहार कैसा होता है? उसकी यह बात करते हैं।

**प्रथम निरुपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है।** यह तो व्यवहार श्रावक के धर्म को प्रवचनसार में ऐसा भी कहते हैं कि श्रावक को मुख्य व्यवहारधर्म है, वही मोक्ष का कारण होता है, उससे मोक्ष होगा, ऐसा कहे। किस अपेक्षा से? उसकी दृष्टि में है कि यह राग छूटा, इतनी मेरी दृष्टि और स्थिरता धर्म है। यह राग छोड़कर मुझे स्थिरता करनी है, इसलिए इससे फिर परम्परा हुआ — ऐसा कहकर इससे मोक्ष हुआ, ऐसा उपचार से कथन किया है। कोई विवाद उठाता है, भाई! मेल खाये ऐसा नहीं। आचार्य जैसा कहते हैं कि भाई! पहले ये काम करना, फिर तुझे दूसरे काम करने हों तो तू जान, ऐसा। तू जान का अर्थ तू जान परन्तु पहले यह करना। ऐसा हम तुझे कहते हैं। व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा और श्रवण, यह देव की पूजा की बात की....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)